DOI: 10.51220/hjssh.v4i1.5

Himalayan J. Soc. Sci. & Humanities, Vol 4 pp. 53-63, 2009

यथार्थवादी चिन्तक और फैण्टेसी का कवि : गजानन माधव मुक्तिबोध

अरविन्द कुमार अवस्थी

हिन्दी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोपेश्वर

Received 11-09-2009 Accepted 21-12-2009

ABSTRACT

प्रस्तुत शोध पत्र में मुक्तिबोध का एक यथार्थवादी चिन्तक और फैण्टेसी कवि के रूप में विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

Keywords :- *Mukti Both, Original thinker, Phantasy Poet.*

'वैदिक साहित्य में कवि और मनीषी में स्पष्ट अंतर किया गया है। दोनों सत्य के द्रष्टा हैं; परन्तु मनीषी या चिन्तक को इस हेतु मानसिक-बौद्धिक श्रम की आवश्यकता पड़ती है। कवि सहज द्रष्टा है।'[1] कवि देखता है और दिखाता है। आलोचक या चिन्तक जानता है और जनवाता है। रामचन्द्र शुक्ल ने इसे बिम्बग्रहण और अर्थग्रहण के अन्तर के रूप में स्पष्ट किया है। जान कर देखा गया सत्य एकपक्षीय तथा प्रेक्ष्यबद्ध रहता है। इसी प्रकार दोनों की अभिव्यक्ति में भी अंतर है। चिन्तन जानने का आग्रह है और कला आग्रहों का शमन। भाषा में ज्ञान की सम्भावना को मान कर चलने के कारण चिन्तन सापेक्ष अभिव्यक्ति है। चिन्तन, यदि इस प्रकार भाषा में कुछ कहने का विश्वास (conviction) है तो कला भाषा में कुछ कहने का आभास (pretension)। कला भाषिक, इसलिये सापेक्ष, होते हुए भी सम्पूर्ण या 'परम अभिव्यक्ति' है। क्रोचे का यह कहना सही है कि आधी-अधूरी कला जैसी कोई चीज नहीं होती। कला समीक्षा भी वस्तुत: किसी रचना के कला बन पाने का उद्‌घाटन न होकर कला न बन पाने की व्याख्या ही है। यदि कोई रचना कला है तो अपनी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति वह स्वयं है। उसका और बेहतर प्रकटीकरण अन्य किसी भाषा में सम्भव नहीं हो सकता। और यदि ऐसा सम्भव है तो फिर वह रचना कला नहीं हो सकती। कला की अपनी भाषा से भिन्न किसी भी भाषा में उसकी विवक्षा नहीं हो सकती क्योंकि अपने सर्वोत्तम रूप में वह स्वयं ही प्रकट है। भरत मुनि ने भी कला (नाटक) के आस्वादन सन्बन्धी चर्चा ही की है। रसास्वादन

© SHARAD

की आत्मगतता या वस्तुगतता परवर्ती भाषा-प्रपंच है। कला की समीक्षा, सारतः, कला से इतर की ही समीक्षा है क्योंकि शुद्ध कला का केवल आस्वादन ही संभव है। इसीलिये, कला-सम्बन्धी यह प्राचीनतम सिद्धान्त मूलतः आस्वादन का सिद्धान्त है, समीक्षा का नहीं। समीक्षा कार्य का वास्तविक क्षेत्र तो उस सभ्यता की विवक्षा है जिसके भीतर से उत्पन्न रचना एवं रचनाशीलता अपने विशेष ऐतिहासिक समय में कलात्मक परिपूर्णता की ओर अग्रसर होती है।

भाषा स्पेस या अंतराल है। विशुद्ध अनुभव के बिन्दु पर कोई भाषा नहीं है। कला, क्योंकि, अभिव्यक्ति का अनुभव से अद्वैत है; इसलिये वह वस्तुतः कुछ नहीं कहती। परन्तु वह कुछ कहती हुई प्रतीत होती है। अरस्तू ने, सम्भवतः, इसीलिये कलाकृति को अनुकरण (mimesis) कहा था। सर फिलिप सिडनी ने लिखा है, ''कवि स्थापनापरक ढंग से कुछ नहीं कहता; इसलिये वह कभी असत्य नहीं बोलता। क्योंकि असत्य बोलने का अर्थ है, किसी ऐसे कथन की सत्यता रूप में पुष्टि, जो असत्य हो।''[2] इस प्रकार कलाकृति सत्य / असत्य की कोटियों से सीमित भी नहीं है। ''कवि की यह कुशलता बहुत महत्वपूर्ण है, परन्तु सब से पहले महत्वपूर्ण है उसकी बिना किसी अवरोध (mediation) के विशुद्ध अनुभव रूप में साक्षात्कार की क्षमता।''[3] मुक्तिबोध चिन्तक और कवि दोनों हैं और उनकी यह द्वन्द्वपरक यात्रा अत्यंत दिलचस्प है।

मुक्तिबोध फैण्टेसी के कवि हैं। उन्होंने 'कामायनी' को भी फैण्टेसी के रूप में पढ़ा। दिलचस्प बात यह है कि अपनी फैण्टेसी को उन्होंने यथार्थ को प्रकट करने वाली तथा प्रसादजी की फैण्टेसी को यथार्थ को ढँक लेने वाला झीना परदा माना। यह ठीक उसी तरह है, जिस तरह कार्ल मार्क्स ने यथार्थवाद को विचारधारा से अलग करते हुए विचारधारा को छद्मचेतना बताया है, यद्यपि यथार्थवाद स्वयं एक विचारधारा है।

मुक्तिबोध द्वारा 'फैण्टेसी' शब्द के प्रयोग का भी एक रोचक इतिहास है। बारबरा लॉज ने लिखा है कि अंग्रेजी के इस शब्द का हिन्दी में प्रयोग मुक्तिबोध ने, सम्भवतः, पहली बार 'तीसरा क्षण'(1958) नामक लेख में किया है। 'कामायनी' की समीक्षा पर 'हंस' में छपे उनके आरम्भिक लेखों में इस शब्द का प्रयोग नहीं है तथा पहली बार इसका प्रयोग 'कामायनीः एक पुनर्विचार' (1961) में ही किया गया है। 'फैण्टेसी' शब्द के मूल अंग्रेजी अर्थ से हट कर, इसका प्रयोग विशेष प्रकार की रचनात्मक प्रक्रिया और उसके उत्पाद -- दोनों के अर्थ में किया गया

है।[4] यह जानकारी सही नहीं है। मुक्तिबोध द्वारा 'फैण्टेसी' शब्द का पहला प्रयोग 'कामायनी' की समीक्षा पर 'हंस' में छपे उनके आरम्भिक लेखों में ही किया गया है। 'हंस' के तीन अंकों (नवम्बर 1945, जनवरी 1946, फरवरी 1946) में धारावाहिक क्रम से ये लेख 'कामायनी : कुछ नये विचार' शीर्षक से छपे थे। जनवरी 1946 में छपे लेख में दो बार इस शब्द का प्रयोग मिलता है। ये वाक्य इस प्रकार हैं ------

1.) यह प्रलय का स्वप्न (फेण्टेसी) और देवसंस्कृति का स्वप्न क्या महत्व रखता है?

2.) प्रलय की फैण्टेसी इसी महान् क्रान्ति का अवचेतन रूप है।

फैण्टेसी के पर्याय रूप में प्रयुक्त शब्द 'स्वप्न' और 'अवचेतन' सहज ही आधुनिक मनोवैज्ञानिक अर्थसन्दर्भो की ओर संकेत करते है। दरअसल, 'फैण्टेसी' की संकल्पना के सहारे मुक्तिबोध स्वप्न, अवचेतन और वस्तुपरक सत्य के पारस्परिक सम्बन्ध की जाँच-पड़ताल करते है। इसी आधार पर आगे चल कर वह रचना एवं रचनाशीलता की विवक्षा भी करते हैं। परन्तु यह बाद की बात है। दरअसल, वस्तुवादी विचारक होने के कारण उन्होंने अपने समय की अद्यतन मनोवैज्ञानिक खोजों का सम्बन्ध वस्तुसत्य से जोड़ा। उन्होंने लिखा है,''जो भाव या जो विचार जिस स्वरूप को लेकर, जिस मात्रा में और जिस अनुपात में प्रस्तुत हुआ है, उसको उसी रूप में प्रस्तुत करना एकदम नाकाफी है। महत्व की बात यह है कि वह भाव या वह विचार किसी वस्तुसत्य से सुसंगत है या नहीं। 'व्यक्तिगत ईमानदारी' का नारा देने वाले लोग असल में भाव या विचार के सिर्फ सब्जेक्टिव पहलू - केवल आत्मपक्ष के चित्रण को ही महत्व दे कर उसे भावसत्य या आत्मसत्य की उपाधि देते हैं। किन्तु भाव या विचार का एक ऑब्जेक्टिव पहलू अर्थात् वस्तुपरक पक्ष भी होता है।''[5] ये विचार वस्तुवादी दर्शन के प्रसिद्ध संवादिता सिद्धांत के अनुकूल हैं।

मुक्तिबोध के अनुसार, यथार्थ एक ऐसा त्रिकोण है जिसकी एक भुजा तो आभ्यंतर वास्तव (आत्म) है, और दूसरी भुजा बाह्य वास्तव (वस्तुसत्य) है तथा मानव-चेतना आधाररेखा की भाँति इन दोनों को जोड़ती है। उनके अनुसार, फैण्टेसी इसी आत्म का प्रोद्भास (Projection or Revelation of Self) है। यह आत्म जब किसी कैनवास पर स्वतंत्र होकर स्वयं को उद्भासित करता है तो उसमें कलाकार के अनजाने ही अनेक भीतरी मनोवेग, गुत्थियाँ तथा छिपी हुई अस्तित्वगत उलझनें निर्मुक्त हो जाती हैं। नामवरसिंह ने 'कविता के नये प्रतिमान' में मुक्तिबोध

द्वारा सिरजी गई फैण्टेसी को खोये हुए सेल्फ (अस्मिता) की खोज के रूप में विवेचित किया है। विवेचन अच्छा है, परन्तु उलझा हुआ है। प्रश्न यह है कि जब सेल्फ ही हर क्षण प्रकट है तो फिर खोज किसकी?

एक सवाल मेरे सामने यह उठता है कि आत्म का प्रोद्भास सदैव फैण्टेस्मेटिक ही क्यों होता है? चेतना की सक्रियता की दशा में सत्य विभक्त होकर आभ्यंतर और बाह्य वास्तव के रूप में भासित होता है। परम्परागत शब्दावली में इन्हें ही हम क्रमशः चरित्र और परिस्थिति कहते आये हैं। जिस बिन्दु पर ये दोनों एक ही हैं, वह भाषा या सापेक्षिकता से परे चेतना की शून्यता की दशा है। इसी बात को हेनरी जेम्स ने इस तरह कहा है,"असल में चरित्र है क्या? घटना का निर्धारण। और घटना क्या है? महज चरित्र का उद्घाटन ही तो!"[6] इस एकत्व या शून्यता को भाषा में रचित सापेक्षिकता अर्थात् संसार-रूप में उपलब्ध कर लेना ही 'परम अभिव्यक्ति' या कलासृष्टि है। रचनाकार इसे एक ही बिन्दु पर उद्घाटित कर सकता है या फिर समय की सृष्टि कर के इसे कथानक या प्रबन्ध-योजना के रूप में प्रकट कर सकता है। चेखव की कहानियों में प्रायः कोई घटना नहीं घटती। केवल किसी एक बिन्दु पर चरित्र ही उद्घाटित हो जाता है। जब रचनाकार चरित्र (सेल्फ) से परे चला जाता है और उसे बाहर से देखता है या यों कहें कि इतिहास से बाहर जाकर इतिहास को देखता है, तभी सहज-उद्भूत कलाकृति जन्म लेती है। जयशंकर प्रसाद और मुक्तिबोध - दोनों की फैण्टेसी इसी कलात्मक प्रयास से उपजी हैं और दोनों ही इसमें पूरी तरह सफल नहीं हो सके हैं। प्रबन्ध या कथानक की योजना चरित्र के ट्रान्सफार्मेशन को घटित होते हुए दिखाने के लिये होती है, परन्तु इसी के साथ इसमें समय के फैलाव की वास्तविकता रूप में उत्पन्न होने वाली प्रतीति सम्पूर्ण सत्य के सम्प्रेषण में बाधा बन जाती है। जेम्स ज्वायस, वर्जीनिया वूल्फ आदि कुछ रचनाकारों ने नैरेटिव को जगह-जगह से तोड़कर या उलट-पुलट कर कथानक के ढाँचे के भीतर रहते हुए ही इस बाधा से निजात पाने के प्रयास किये हैं। फिर भी, प्रबन्ध या कथानक के ढाँचे को लेकर चलने वाली रचनाओं में विश्वसनीयता उत्पन्न करने के लिये वास्तविकता की देश-कालगत संगति को स्वीकार करना ही पड़ता है।

भाव पक्ष या आभ्यंतर-वास्तव, विभाव पक्ष या बाह्य-वास्तव के साथ सुसंगत हो; ऐसी माँग कई बड़े आलोचक अभिव्यक्ति के औचित्य को ध्यान में रख कर करते आए हैं। भरत

ने रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से बतायी है। रामचन्द्र शुक्ल का 'विभावन व्यापार' और टी0एस0इलियट का 'वस्तुनिष्ठ समीकरण' का सिद्धांत भी असल में यही है। भ्रमरगीत सार की भूमिका में आचार्य शुक्ल लिखते हैं," परिस्थिति की गंभीरता के अभाव में गोपियों के वियोग में भी वह गंभीरता नहीं दिखाई पड.ती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम-सा दिखाई पड़ता है। ---------- गोपियों के गोपाल केवल दो-चार कोस दूर के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे। सूर का वियोग-वर्णन, वियोग-वर्णन के लिये ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। ------- यदि परिस्थति का विचार करें, तो ऐसा विरह-वर्णन असंगत प्रतीत होगा। पर जैसा कहा जा चुका है, सूरसागर प्रबंधकाव्य नहीं है, जिसमें वर्णन की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता के निर्णय में घटना या परिस्थिति के विचार का बहुत कुछ योग रहता है।'[7] मुक्तिबोध ने इस प्रकार के शिल्प को, जिसमें भावपक्ष विभाव पक्ष के साथ सुसंगत होता है, यथार्थवादी शिल्प कहा है। इसके विपरीत फैण्टेसी या भाववादी शिल्प वह है जिसमें भावपक्ष, विभाव पक्ष से प्राय: स्वतंत्र हो कर या उसे यत्र-तत्र सूचित कर के अपने ही गति-नियमों की संगति के अनुकूल होता हुआ रचना के रूप में उपस्थित होता है। उसमें जीवन-जगत की देश-काल गत व्यवस्था व औचित्य छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इतिहास उलट-पुलट जाता है, चीजों के पारस्परिक सम्बन्ध के तर्कनियम वास्तविक जगत की वास्तविक स्थितियों से बहुत दूर चले जाते हैं। चीजें न तो वैसी दिखाई देती हैं जैसी कि असल में वह दिखाई देती हैं; और न ध्वनियाँ वैसी सुनाई पड़ती हैं जैसीकि असल में वे सुनाई पड़ती हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियसंवेद्य जगत ही विरूप हो कर वास्तविक का विकृताकृति बिम्ब बन जाता है। इसी रहस्य या अजीबोगरीब की सृष्टि फैण्टेसी कहलाती है।

फैण्टेसी, भले ही, बाह्य वास्तविकता के मेल में नहीं होती, परन्तु कला के निर्वाह के लिये उसमें आन्तरिक संगति का होना अनिवार्य है। काफ्का की कहानी 'मेटामार्फोसिस' का मुख्य चरित्र ग्रेग एक सुबह सो कर उठता है तो पाता है कि वह एक भारी-भरकम, बेडौल-सा कीड़ा है। इसके बाद पूरी कहानी में भाषा, क्रियाकलाप और चिन्ताओं से लेकर भावनाओं और प्रवृत्तियों के रूपान्तरण तक उसकी यातना और त्रास को कीड़े के स्तर पर ही उजागर किया गया है। इस आन्तरिक संगति-निर्वाह के कारण उत्पन्न विश्वसनीयता ने उसे फैण्टेसी की कला का मानक ही बना दिया है। परन्तु फैण्टेसी में इस स्तर का संगति-निर्वाह प्राय: दुस्साध्य ही

है। स्वयं काफ्का की अन्य कहानियाँ इस स्तर को नहीं छू सकी हैं। हिन्दी के कहानीकार जयशंकर प्रसाद (स्वर्ग के खण्डहर में), जैनेन्द्र (नीलम देश की राजकन्या) आदि तो ऐसे प्रयासों में बचकाने दिखाई देते हैं।

प्राचीनकाल से ही दो प्रकार के काव्यरूप दिखाई देते हैं- पहले, जिनमें योजना (कथानक या प्रबन्ध) रहती है; दूसरे, जिनमें विभाव पक्ष की उपेक्षा करते हुए अथवा उसे यत्र-तत्र सूचित-मात्र करते हुए भावात्मक निर्मुक्ति व्यक्त होती है। ये दूसरे प्रकार की रचनाएँ गीत, प्रगीत या प्रगीतात्मक फैण्टेसी होती हैं। इनमें अवचेतन की निर्बाध अभिव्यक्ति स्वप्न-रूप में होती है। फलस्वरूप, विशेष प्रकार के मूल्यों, विश्वासों और परिभाषाओं में संरचित बाह्य-संबंधों के वास्तविक परिपार्श्व की कई बार उपेक्षा हो जाती है। इसीलिये आचार्य शुक्ल ने सूर के प्रेमलोक को 'लोक से न्यारा'[8] कहा है।

कई बार ऐसा होता है कि रचनाकार योजना के अनुसार मूल पैटर्न का चुनाव करता है, परन्तु उसके अनजाने ही भीतर की निगूढ़ प्रवृत्तियों, ग्रन्थियों तथा समस्याओं की निर्मुक्ति उसमें हो जाती है और उसके रंग चित्र को एक दूसरी ही कूँची के स्ट्रोक्स से सजा देते हैं। उसके आभ्यंतर-वास्तव से निर्मुक्ति (Release) की प्रक्रिया में उभरने वाले रंग आन्तरिक वास्तविकता की संगति के अनुसार उभर कर कैनवास पर बिखर तो जाते हैं, परन्तु वे मूल पैटर्न के साथ असंगत दिखाई देते हैं; जैसेकि कामायनी में उद्भासित आत्म वेदकालीन वातावरण के कैनवास पर असंगत प्रतीत होता है। दूसरे, यह 'सेल्फ' जिस चरित्र / चरित्रों के भीतर से उद्भासित होता है, उनके अंकन में तटस्थता के स्थान पर एक आत्ममयता (Personal Quality) के दर्शन होते हैं। तीसरे, योजनाबद्ध प्रबन्ध के भीतर प्रगीत की भावनात्मक स्फीति मिलने लगती है जिससे संरचना का नाटकीय कसाव शिथिल पड़ जाता है। मुक्तिबोध का यह कहना सही है कि कामायनी में 'लिरिकल काव्य' की 'पर्सनल क्वालिटी' मौजूद है। कामायनी की भाषा के अध्येत्ता भी, प्रायः, यह स्वीकार करते हैं कि वह अत्यंत सुंदर छोटे-छोटे प्रगीतों में रचित है जिन्हें जोड़ने वाली आधारभाषा चपटी और सतही किस्म की है। साहीजी ने यह सवाल उठाया है कि प्रसाद और महादेवी दोनों के पास भाषा का एक ही दाय था; महादेवी ने भाषा को फुला दिया, फिर प्रसाद ने क्यों नहीं? इसलिये यह देखना आवश्यक है कि कामायनी में 'स्वीप ऑफ इमेजिनेशन' कितना है? निस्संदेह, प्रगीत या प्रगीतात्मक फैण्टेसी के

कवि की कल्पनाशक्ति को मापने की यह एक बेहतर कसौटी है। कल्पनाशक्ति का अजस्र प्रवाह ही प्रगीत को भावनात्मक स्फीति से बचाता है।

मुक्तिबोध का यह कहना भी उचित लगता है कि मनु ही वह चरित्र है जिसके भीतर से स्वयं कामायनी का रचनाकार निर्मुक्त हुआ है। दरअसल कामायनी का केवल ढाँचा ही प्रबन्धात्मक है, वर्ना तो उसमें केवल एक ही चरित्र - मनु का ट्रान्सफार्मेशन अंकित किया गया है और वह भी तटस्थ हो कर नहीं। मनु-समस्या तो किसी अत्यंत निगूढ़ स्तर पर प्रसादजी की ही बद्धमूल समस्या है। इस चरित्र के अंकन के क्रम में वह अपने ही इस 'सेल्फ' को बाहर से देखना चाहते थे। इतिहास से बाहर जाने के लिये उन्होंने सृष्टि के विकास की इस भारतीय गाथा का रचनात्मक शोध किया। साही यह प्रश्न सामने रखते हैं कि श्रद्धा और मनु तथा इडा और मनु के संसार के बीच यह परस्पर अपवर्जन का सम्बन्ध क्यों है? और पुत्र जो दे दिया गया है, वह क्या केवल तदर्थता के लिये? प्रसादजी इससे क्या कहना चाहते हैं? श्रद्धा और इडा के बीच मनु का तनावग्रस्त होकर टूटना क्या है? और फिर हिमालय वाला संसार सिंथेसिस है या रिट्रीट?

मुक्तिबोध के अनुसार मनु का तनावग्रस्त होकर टूटना आधुनिक मनुष्य के व्यक्तित्व का विघटन है और यही आधुनिक सभ्यता का केन्द्रीय संकट है। यही मनु-समस्या है और कामायनी की केन्द्रीय समस्या भी है। ऐतिहासिक स्तर पर आधुनिक पूँजीवादी युग का जो सामान्य अंतर्विरोध है, वही सामंती समाज के पूँजीवादी समाज में संक्रमण के काल में एक विशिष्ट सामाजिक संवर्ग के भीतर से विशिष्ट अंतर्विरोध बन कर 'मनु-समस्या' के रूप में व्यक्त हुआ है। प्रसादजी की उपलब्धि यही है कि वह इसे व्यक्त कर सके। प्रसादजी की सीमा यह है कि उन्होंने 'मनु-समस्या' की इस विशिष्ट ऐतिहासिकता को ओझल करते हुए उसे अरूप मानसिक प्रवृत्तियों के स्तर पर उतार दिया और मिथक व तत्ववाद के सहारे उसकी वर्तमानता एवं ऐतिहासिकता को नैसर्गीकृत कर दिया। साही को भी यह आश्चर्यजनक लगा कि कामायनीकार मानवीय प्रवृत्तियों को नारी के रूप में क्यों देखता है? कामायनी के नारी चरित्र अमूर्त्त मानवीय प्रवृत्तियों के स्थिर प्रतीक हैं। परिणाम यह हुआ कि मिथकीय गाथा के कैनवास और उस पर उद्भासित आधुनिक 'स्व' और उसके मंतव्यों के बीच विशाल देश-काल गत दूरी व अपरिचय ने कुहासे की सृष्टि कर दी। अत: आलोचना का दायित्व है कि वह

रचना को मिथकीय सांकेतिकता से मुक्त करके तथा कुहासे को निर्मूल करके निरैतिहासीकृत रचना को पुनः ऐतिहासीकृत करे। यही काम मुक्तिबोध ने किया है। यह काम दुस्साध्य है, जैसाकि रोलाँ बार्थ ने लिखा है," ऐसा प्रतीत होता है कि किसी मिथक को उसी के भीतर से निर्मूल करना अत्यन्त दुष्कर है: ----- सच्चाई यह है कि मिथक के विरूद्ध सब से कारगर हथियार बनावटी मिथक खड़ा कर उसके सहारे मिथक का ही मिथकीयकरण कर देने में है। यदि मिथक भाषा को किसी चीज से वंचित करता है, तो क्यों न उसे मिथक से ही वंचित कर दिया जाये ? ----- ऐसे मिथक प्रयोग धर्मी या द्वितीय कोटि के मिथक कहलाते हैं।"[9]

मुक्तिबोध के अनुसार, फैण्टेसी के भीतर ऐतिहासिक पार्श्व से संलग्न होकर कला का पूर्ण आविर्भाव संभव है। ऐसी फैण्टेसी की संरचना स्वभावतः नाटकीय होगी और वह प्रगीत से मुक्त होगी। नामवरसिंह ने 'अँधेरे में' कविता का विवेचन यही मान कर किया है। परन्तु मानने और पहचानने में अंतर होता है और वह पहचानने में चूक गये हैं। 'अँधेरे में' के भीतर स्वप्न-दृश्यों की जो योजना है वह किसी कलात्मक नाटकीयता का आविर्भाव नहीं करती; अपितु उसमें एक अनियंत्रित प्रवाह है जो प्रगीत का संकेत करता है; मानों विचारधारात्मक आग्रहों पर भावना फिसलती चली गयी हो। 'अँधेरे में' के जिन तीन स्वप्नदृश्यों को मार्क्सवादी फार्मूले (निम्नमध्यवर्गीय व्यक्ति द्वारा अपनी ऐतिहासिक अस्मिता की पहचान, अंतर्विरोधों के तीव्र होने पर आततायी सत्ता का खुलकर सामने आ जाना - मार्शल लॉ और जुलूस, क्रान्ति का घटित हो जाना) में फिट करके नामवरसिंह ने उसे नाटकीय कला बताया है, वे वस्तुतः इच्छापूर्ति के स्वप्नदृश्य भर हैं। नाटकीय कला वह नहीं होती जो पाठक के सम्मुख पहले से बने-बनाये प्रश्न खड़े करे, न ही वह जो प्रश्नों या समस्याओं के दार्शनिक या विचारधारात्मक निदान दिखाये या बताये; अपितु नाटकीय कला वह होती है जो पाठक को अपनी संरचना में बाँध कर अपने-अपने स्तर से प्रश्न उठाने और उन पर सोचने के लिये विवश कर दे। नाटकीय कला की सामर्थ्य इसमें है कि वह हर समाधान के भीतर से प्रश्न पैदा कर दे। नामवरसिंह ने भले ही 'अँधेरे में' को नाटक की सधी हुई कला के रूप में विवेचित कर दिया हो, परन्तु मुक्तिबोध ने स्वयं कविता के अन्त में कला की परिपूर्णता का आविर्भाव न हो पाने की सूचना दे दी है। मुक्तिबोध कुशल कलाकार भले ही न हों, उनमें ईमानदारी अत्यन्त प्रखर है। उनमें सत्य के साक्षात्कार की सच्ची तड़प है। परन्तु, चाहे उनकी कविताएँ हों या कहानियाँ, काफ्का

की ही तरह वह स्वयं को उनसे बाहर नहीं ले जा पाते। उनके भीतर बार-बार अपने ही 'स्व' की निर्मुक्ति कर जाते हैं। इस कारण से कलाकृति के भीतर एक अवांछित धुंध पैदा हो जाती है। हाँ, 'मेटामार्फोसिस' के उदाहरण को सामने रख कर निस्संदेह कहा जा सकता है कि फैण्टेसी के भीतर भी कला के परिपूर्ण का आविर्भाव संभव है।

मुक्तिबोध द्वारा की गयी कामायनी की समीक्षा पर दो प्रधान आरोप लगे हैं। पहला यह कि इसमें मार्क्सवादी जॉर्गन का प्रयोग किया गया है। दूसरा यह कि कामायनी की अनेकस्तरीय अर्थध्वनियों को विलुप्त करते हुए इसमें इकहरे ऐतिहासिक अर्थ को निष्पन्न किया गया है जिससे एक समृद्ध रचना इकहरे पाठ में अवमूल्यित हो गयी है।

इनमें से पहले आरोप को मुक्तिबोध ने स्वीकार कर लिया है; परन्तु उसे समीक्षा की राजनीति के लिये आवश्यक माना है। मार्क्सवादी जॉर्गन को हटा देने पर भी वह कामायनी की एक सुव्यवस्थित आलोचना है जोकि रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी में दुर्लभ है। उनकी आलोचना-पद्धति की खूबी यह है कि वह मनमाने ढँग से शुरू न होकर पहले काव्य-रूप की पहचान करती है, उसके आधार पर रचना का एक पाठ निर्धारित करती है और तब उसके विश्लेषण में प्रवृत्त होती है। आरोप लगाने वालों से यह सवाल भी उलट कर किया जा सकता है कि कामायनी के अन्य समीक्षाकारों ने क्या रचना की समीक्षा अपने मन में बिना उसका कोई पाठ खड़ा किये, भले ही वे स्वयं उसके बारे में सचेत न हों, कर डाली है? यदि नहीं, तो क्या रचना के किसी एक विशेष पाठ का निर्धारण बगैर किसी चयनदृष्टि या विचारधारा की उपस्थिति के संभव है?

दूसरे आरोप का उत्तर यह है कि कला की समृद्धि की विवक्षा कला से इतर किसी भी भाषा में संभव नहीं है। कला इसीलिये अद्वितीय है कि उसमें छिपाने योग्य को सर्वोत्तम ढँग से छिपाया गया है और प्रकट करने योग्य को सर्वोत्तम ढँग से प्रकट किया गया है। अतः उसे उससे बेहतर ढँग से दिखाना संभव नहीं है, इसलिये आवश्यक भी नहीं है। फिर भी, कोई चाहे तो कामायनी को लेकर ऐसे प्रयास कर सकता है। परन्तु आलोचना का महत्वपूर्ण और आवश्यक कार्य यह दिखाना है कि कोई रचना किस सीमा तक, कैसे और क्यों कला नहीं बन सकी है। यदि कलाकृति उद्वेगों का शमन कर सकी है अर्थात् उसके भीतर उपस्थित किये गये दृश्यों, घटनाओं, चरित्रों, संवादों आदि के भीतर से कुछ कह देने का आग्रह या

उद्वेग नहीं झलकता तो इसका अर्थ यह है कि सृष्टि सृष्टि से स्वयं को बाहर कर के उसे स्वतंत्र सत्ता दे सका है। ऐसी सृष्टि के पात्रों का स्वतंत्र अस्तित्व होता है जिससे उनकी मानवीय गरिमा और अर्थवत्ता का निर्माण होता है। स्रष्टा सृष्टि में सीधे दखल देने के लिये स्वतंत्र नहीं है क्योंकि यह कला के नियमों का उल्लंघन है। स्वयं को अभिव्यक्त करने के लिये पात्रों के संवादों, क्रियाकलापों आदि के अतिरिक्त उसके पास और माध्यम ही क्या है? स्व को प्रकट करने के लिये 'स्व' से बाहर जाना आवश्यक है और यही कला-सृष्टि है। 'स्व' से बाहर जाने का तात्पर्य यह है कि मुखौटा धारण करके नाटक के भीतर स्वतंत्र चरित्र बन जाये और सारे मुखौटों से परे जो सम्पूर्ण नाटक रूप में अभिव्यक्त है, उसे नाटक में से विलुप्त कर दे। नाटक इसीलिये सर्वश्रेष्ठ कलारूप है कि उसमें नैरेटर विलुप्त हो जाता है और सब कुछ सामने घटित होता हुआ दिखाई देता है।

रचना के भीतर बोलने की छूट केवल चरित्रों को होती है; परन्तु प्रायः होता यह है कि रचना में उपस्थित किये गये दृश्यों, घटनाओं, चरित्रों, संवादों से अलग नैरेटर के जीवन-जगत सम्बन्धी अपने विश्वास और धारणायें सामान्यीकृत निष्कर्षों के रूप में व्यक्त होते हैं। कई बार ये सामान्यीकृत निष्कर्ष पात्रों और कथानक के चयन और विकास से भी ध्वनित होते हैं। ये सामान्यीकृत निष्कर्ष सकारात्मक रूप से सत्य की दावेदारी के रूप में सामने आते है, अतः ये स्वयं ही कलात्मक सृष्टि को तथ्यों और नैतिकताओं से बने वास्तविक अनुभूतियों वाले जगत -वास्तविक सृष्टि से जोड़ते हैं। ऐसी स्थिति में यह पड़ताल करना आवश्यक हो जाता है कि वे सभ्यता-समीक्षात्मक सामान्यीकृत निष्कर्ष वस्तु सत्य से सुसंगत हैं अथवा नहीं; और कहीं वे प्रतिगामी और हानिकर तो नहीं हैं। कामायनी में और तमाम नयी कविता में इन्हीं की भरमार है। यदि कला के आस्वादन के लिये अनुभव की अद्वितीयता की परख आवश्यक है तो कला की समीक्षा के लिये अनुभव की ऐतिहासिकता का बोध। अक्टूबर 1952 की 'आलोचना' में 'सभ्यता- समीक्षा और इड़ा' नामक लेख में मुक्तिबोध ने इसी बात का विवेचन किया है। यही वह बिन्दु है जहाँ से कला और समीक्षा सम्बन्धी गतिविधियों का सम्बन्ध राजनीति से जुड़ता है। 'नयी कविता' की राजनीति का विवेचन मुक्तिबोध ने इसी दृष्टिकोण से किया है।

संदर्भ सूची

1. पाद टिप्पणी सं. 07, पृ.सं. 07,
'दॅ उपनिषद्स-1, ईश उपनिषद्' (अंग्रेजी)
श्री अरबिन्दो आश्रम, पांडिचेरी,
प्रथम संस्करण 2003, तीसरा मुद्रण 2006 ---- श्री अरबिन्दो
2. 'अपॉलोजी फॉर पोएट्री', 1926(अंग्रेजी) ---- सर फिलिप सिडनी
3. 'दॅ आर्ट ऑफ फिक्शन' 1884,88 (अंग्रेजी) ---- हेनरी जेम्स
4. पाद टिप्पणी सं. 24, प५.सं. 223,
लेख-'रोमैण्टिक एलेगरी एण्ड प्रोग्रेसिव क्रिटिसिज्म' ---- बारबरा लॉज
संग्रहीत-' नैरेटिव स्ट्रैटेजीस' ---- सम्पा.- वसुधा डालमिया
5. 'मुक्तिबोध रचनावली' खण्ड 04, पृ.सं. 106
प्रथम सं. 1980, आवृत्ति 1998,
राजकमल प्रका., दरियागंज, नई दिल्ली ----- सम्पा.- नेमिचन्द्र जैन
6. 'दॅ आर्ट ऑफ फिक्शन' 1884,88 (अंग्रेजी) ----- हेनरी जेम्स
7. 'भ्रमरगीत सार', पृ.सं.13,
कृष्णदास पोरवाल एण्ड कम्पनी, दुकान सं.22,
दुलहिनजी रोड, कृष्णदास गोपालदास पोरवाल,
साहित्य सेवा सदन, वाराणसी -1 ------ रामचन्द्र शुक्ल
8. 'भ्रमरगीत सार', पृ.सं.14,
कृष्णदास पोरवाल एण्ड कम्पनी, दुकान सं.22,
दुलहिनजी रोड, कृष्णदास गोपालदास पोरवाल,
साहित्य सेवा सदन, वाराणसी -1 ------ रामचन्द्र शुक्ल
9. 'माइथोलोजीस', पृ.सं. 135, प्रथम सं. 1972,
अनुवाद(अंग्रेजी)-ऐनेट लेवर्स, ग्रेट ब्रिटेन,
जोनाथन केप लिमिटेड, लंदन ------ रोलाँ बार्थ।